E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

अनुबन्ध चतुष्टय-*क) अधिकारी-काम्य, निषिद्ध, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, उपासना*

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी
सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

अनुबन्ध चतुष्टय के अन्तर्गत अधिकारी के विवेचन के क्रम में प्रसङ्गवश वेदान्तसारकार ने काम्य, निषिद्ध, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, उपासना कर्मों का विवेचन किया है। इसका विस्तृत विवरण आगे क्रमवार दिया जा रहा है-

१. **काम्यानि** स्वर्गादिष्ट साधनानि सोहि ज्योतिष्टोमादीनि।

अर्थात् स्वर्गप्राप्त्यादि कामनाओं से किये जाने वाले ज्योतिष्टोम यज्ञादि काम्य कर्म है।

'कामाय हितानि काम्यानि' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उन कर्मों को काम्य कहा जाता है, शास्त्रों में जिनका विधान किसी फल की कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है। कामना की पूर्ति की कामना के विषयभूत फल के उत्पादन से होती है। फलतः जो कर्म शास्त्रानुसार काम्य फल के उत्पादक होते हैं वे ही काम्य कर्म कहे जाते हैं। जैसे परलोक में स्वर्ग और इस लोक में पुत्र, कलत्र, धन-धान्यादि मनुष्य को काम्य होते हैं। शास्त्रों में जिन कर्मों को इन काम्य वस्तुओं का जनक बताकर उनके अनुष्ठान की कर्तव्यता बतायी गयी है वें कर्म काम्य है। इन कर्मों को त्याज्य माना गया है।

शास्त्र में ज्योतिष्टोम को स्वर्ग का साधक बताकर उसे स्वर्गकाम का कर्तव्य बताया गया है। **'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः'**- जिस मनुष्य को स्वर्ग की कामना हो, वह ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ से अपने इष्ट का साधन करे। शास्त्र का आशय स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम स्वर्ग का जनक है। अतः जिसे स्वर्ग जाने की इच्छा हो वह ज्योतिष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान करे।

२. **निषिद्धानि** नरकाद्यनिष्ट साधनानि ब्राह्मणहननादीनि।

अर्थात् नरक जैसी अनिष्ट वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले ब्रह्महत्या आदि निषिद्ध कर्म हैं।

त्याज्य कर्म का दूसरा भेद है-निषिद्ध। शास्त्रों में जिन कर्मों का निषेध किया गया है, जिन कर्मों को न करने का आदेश दिया गया है, वे कर्म निषिद्ध कहे जाते हैं। ऐसे कर्म वही होते है जो नरक आदि अनिष्ट वस्तुओं के जनक होते हैं। जो वस्तु मनुष्य को इष्ट नहीं होती जैसे दुःख और दुःख के साधन, वे जिन कर्मों से उत्पन्न होती है, शास्त्र उन कर्मों को न करने का आदेश देता है। बह्महत्या, गोहत्या, मद्यपान, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि ऐसे ही कर्म हैं।

मनुष्य को जो वस्तुएं अनिष्ट होती हैं, उनमें सबसे प्रधान है नरक, नरक शब्द का अर्थ है- ऐसा घोर दुःख, जिसमें सुख का किञ्चन्मात्र भी सम्पर्क नहीं होता, ऐसा दुःख जिस स्थान में प्राप्त होता है, उसे भी नरक कहा जाता है। नरक शब्द की व्युत्पत्ति है- कुत्सितो नरो यस्मात्, जिससे मनुष्य कुत्सित हो जाता है, मनुष्य को कुत्सित करने वाला होता है, सुख-हीन दुःख और उस दुःख-भोग का स्थान, यह जिन ब्रह्महत्या आदि कर्मों से प्राप्त होता है, वे निषिद्ध कोटि के त्याज्य कर्म कहे गए हैं।

'विद्वनमनोरञ्जनी' में निषिद्ध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **'भ्रमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि'** इस यथाश्रुत वाक्य के अनुसार वे कर्म निषिद्ध होते हैं, जिनका ज्ञान ऐसे शास्त्र वचनों से होता है, जो उन कर्मों में भ्रमवश ज्ञात इष्टसाधनता के निषेधक नञ् पद से घटित होता है, जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि शास्त्रवचन।

३. **नित्यानि** अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।

अर्थात् जिनके न करने से हानि हो वे नित्य कर्म कहलाते हैं। उदाहरणार्थ सन्ध्यावन्दन आदि।

नित्यकर्म उन कर्मों को कहा जाता है जिनके न करने पर पाप होता है। सन्ध्यावन्दन आदि कर्म इसी श्रेणी के कर्म हैं । **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** इस वचन से सन्ध्योपासन को प्रत्यह का कर्तव्य बताया गया है। अतः उसका त्याग करने पर उक्त कर्म का अधिकारी पापभागी होता है और अन्य द्विजोचित कर्मों के अधिकार से वंचित हो जाता है। जैसा कि मनु ने कहा है-

नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शुद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मण"।।

अतः पाप से बचने के लिये नित्य कर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य है। नित्यकर्मों के सम्बन्ध में यह मानना ही उचित है कि नित्यकर्मों के अकरण से जो पाप सम्भावित है, उस पाप की उत्पत्ति के परिहारार्थ ही नित्यकर्मों का अनुष्ठान होता है।

ग्रन्थकार ने सन्ध्यावन्दन आदि को नित्यकर्म कहा है। आदि शब्द से ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ इन पाँच यज्ञों जैसे प्रत्यह करणीय कर्मों की ओर संकेत किया गया है। इन यज्ञों का विधान गृहस्थों को चूल्हा, चक्की, झाड़ू, उखल- मूसल, और पानी का घड़ा इन पात्रों से उत्पन्न होने वाले पापों से बचाने के लिये किया गया है। जैसा कि मनु ने कहा है-

"पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनिं चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन्।।
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।।
अध्यानं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसनित्यं सूनादोषैर्ज लिप्यते"।।

४. **नैमित्तिकानि** पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि।

अर्थात् पुत्रोत्पत्ति आदि के अवसर पर जातेष्टि यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं।

किसी निमित्त को उपलब्ध कर अवश्य कर्तव्यता होने के कारण से जो श्रुतियों द्वारा अभिहित किये गये हैं वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं-

"निमितमात्रमासाद्यावश्यककर्तव्यतया विहितानि नैमितिकानि"।

नैमित्तिक का अर्थ है निमित्तमूलक, निमित्त विशेष के उपस्थित होने पर जिन कर्मों को शास्त्र ने अवश्यकरणीय बताया है, वे कर्म नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। जातेष्टि एक लघु याग है, पुत्र जन्म होने पर शास्त्र द्वारा उसका विधान किया गया है। जातेष्टि का विधायक वाक्य है-

"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते"।

ग्रन्थकार ने जातेष्टि आदि को नैमित्तिक कर्म कहा है, आदि शब्द से क्षामवद याग आदि श्रौत कर्मों तथा राहूपरागमूलक स्थान आदि स्मात कर्मों का संकेत किया गया है। उक्त सभी कर्म क्रम से पुत्रजन्म, गृहदाह, ग्रहण आदि निमित्त विशेष उपस्थित होने पर विदित होने से नैमित्तिक हैं।

५. **प्रायश्चित्तानि** पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।

अर्थात् पापक्षालनार्थ किये जाने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म कहे जाते हैं।

प्रमाद मनुष्य का स्वभाव है, जिसके कारण उससे विहित कर्मों का त्याग और निषिद्ध कर्मों का आचरण होता है। इनसे उत्पन्न पापों से मनुष्य का मन मलिन होकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख नहीं हो पाता और कालान्तर में मनुष्यों को उन पापों का कुफल भोगना पड़ता है। अतः मनुष्य के इन पापों का नाश करने के लिये शास्त्रों में कुछ कर्मों विश्वान किया गया है। इन्हीं कर्मों को प्रायश्चित कहा जाता है-

"विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चितानिह"।

चान्द्रायण व्रत आदि इस श्रेणी के कर्म होने से प्रायश्चित कहे जाते हैं। मनुस्मृति में इस बात को इस प्रकार कहा है -

"अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः"।।

विहित कर्म को न करने वाला, निन्दित कर्म को करने वाला तथा इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने वाला मनुष्य प्रायश्चित का पात्र होता है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति में यह बात और स्पष्ट रीति से कही गई है-

"विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।।
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चितं विशुद्धये"।

अर्थात् विहित कर्म के न करने से, निषिद्ध कर्म के करने से तथा इन्द्रियों की रोकथाम न करने से मनुष्य पाप का भाजन बनता है। अतः उसे वर्तमान शरीर के रहते ही पापों के विनाश के लिये प्रायश्चित करना चाहिये।

पापों की गुरुता और लघुता तथा पाप से मुक्ति पाने को इच्छुक मनुष्य की आर्थिक एवं शारीरिक शक्ति के अनुसार शास्त्रों में गुरु, लघु अनेक प्रकार के प्रायश्चितों का विधान किया गया ग्रन्थकार ने उनका निर्देश चान्द्रायण आदि के रूप में किया है। चान्द्रायण के सम्बन्ध में मनुस्मृति में इस प्रकार कहा गया है-

"एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशन् त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्"।।

प्रायश्चित शब्द में मध्यमपदलोयी समास है। उसका विग्रह है 'प्रायस्तुष्टं चित्तं यत्र तत् प्रायश्चित्तम्"।

इसके आधार पर प्रायश्चित का अर्थ है वह व्रत जिसमें कठोर तप के अनुष्ठान से चित्त तुष्ट हो जाता है। प्रायश्चित में पापशोधक तप के सम्बन्ध में चित्त की सन्तुष्टि का ही महत्त्व होता है, इसीलिए मनु ने कहा है-

"यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिन् तावत्तपः कुर्याद् यावत् तुष्टिकरं भवेत्"।।

आदि पद से जिन प्रायश्चितों का संकेत किया गया है उनमें कृच्छ्र नाम का व्रत मुख्य है।

६. **उपासनानि** सगुण ब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।

अर्थात् सगुण ब्रह्मविषयक मनोवृति के स्थिरीकरण के लिये किये जाने वाले कर्म उपासना कहे जाते हैं। जैसे- शाण्डिल्यविद्यादि।

चराचर जगत् को ब्रह्म का रूप जानकर उसमें आदरपूर्वक चिरकालपर्यन्त अपनी मनोवृत्ति को स्थिर करने के लिये जिन कर्मों को किया जाता है उन्हें उपासना कर्म कहते हैं।

'उप-समीपे, आस्यते- स्थीयते अनेन इत्युपासनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना उस कर्म को कहा जाता है जिसके द्वारा उपासक उपास्य के समीप अवस्थित होता है। उपास्य के समीप उपासक के अवस्थित होने का अर्थ है उपास्य के स्वरूप में उपासक के चित्त को स्थैर्य-लाभ होना। इस प्रकार उपासना का अर्थ होता है मन का वह व्यापार जिससे मन उपास्य सगुण ब्रह्म में स्थिर होता है।

शाण्डिल्य विद्या आदि को उपासना बनाते हुये ग्रन्थकार ने आदि शब्द से उपासनात्मक अन्य विद्याओं की ओर संकेत किया है। जैसे-दहरविद्या, वैश्वानरविद्या आदि।

ग्रन्थकार ने उपासना को मनोमय व्यापार कहकर उसकी ज्ञानभिन्नता की ओर संकेत किया है। उनका आशय यह है कि सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरण को बुद्धि और रजोगुण प्रधान अन्तःकरण को मन कहा जाता है। बुद्धि ज्ञानशील होती है और मन क्रियाशील एवं चञ्चल होता है। बुद्धि के सत्त्वांश के विषयाकार परिणाम को ज्ञान कहा जाता है और मन के रजस् अंश की विषयाभिमुख गति को मनोव्यापार कहा जाता है। यह गति जब एकाभिमुख रहते हुये सतत प्रवर्तमान होती है तब अभिमुखस्थ विषय की एकता, मनोगति के प्रेरक पुरुष की एकता तथा कालव्यवधान के अभाव के कारण ध्यान शब्द से व्यवहत होती है। इस गत्यात्मक ध्यान को ही उपासना कहा जाता है। इस प्रकार उक्त मनोगतिरूप उपासना बुद्धि के विषयाकार सात्विक परिणामरूप ज्ञान से भिन्न होती है।

इन कर्मों में नित्य कर्मों के अनुष्ठान का परम प्रयोजन बुद्धि की शुद्धि तथा उपासना कर्मों का चित्त को एकाग्र करना है-

"एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादिस्मृतेश्च"।

'तमेतमात्मानम्' आदि श्रुति का अर्थ यह है कि ब्राह्मण वेदाध्ययन और यज्ञानुष्ठान से उक्तस्वरूप इस आत्मा की विविदिषा-जिज्ञासा करे। श्रुति के यथाश्रुत शब्दों से यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता कि वेदाध्ययन और यज्ञ से बुद्धि की शुद्धि होती है किन्तु उनके द्वारा जिज्ञासा करनी चाहिये इस कथन से उक्त बात का लाभ हो जाता है क्योंकि आत्मा ब्रह्म की जिज्ञासा विशुद्ध बुद्धि में ही प्रादूर्भूत हो सकती है। इस सम्बन्ध में स्मृति वाक्य है-

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु"।।

उक्तस्मृति का यह अर्थ तो स्पष्ट ही है कि तप से कल्मष बुद्धि के पापात्मक मल का नाश करना चाहिये। इस स्मृति के अनुसार उक्त श्रुति के इस तात्पर्य का निर्णय सुलभ हो जाता है कि वेदाध्ययन और यज्ञ से बुद्धि का शोधन कर आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिये।

यह प्रश्न हो सकता है कि उक्त श्रुति में वेदानुवचन और यज्ञ का तथा उक्त स्मृति में तप का ही उल्लेख है, नित्य नैमित्तिक कर्मों का नहीं। अतः उक्त श्रुति एवं स्मृति बुद्धिशुद्धि को नित्यनैमित्तिक कर्मों का प्रयोजन बनाने में प्रमाण कैसे हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि वेदाध्ययन "बाह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च", "स्वाध्यायान्मा प्रमद" इत्यादि वचनों के अनुसार नित्य कर्म हैं और वह अन्य नित्यकर्मों का उपलक्षण हैं। इसी प्रकार यज्ञ शब्द सभी यज्ञों का बोधक होने से पञ्चचमहायज्ञ आदि नित्यकर्मी तथा जातेष्टि आदि नैमित्तिक कर्मों का बोचक है।

इसी प्रकार उक्त स्मृति का तप शब्द तप सामान्य का बोचक होने से चान्द्रामण आदि प्रायश्चित्तात्मक तप का और सन्ध्यावन्दन आदि नित्यानुष्ठेग तप का बोधक है । अतः उक्त युति और स्मृति द्वारा नित्य नैमिनिक और प्रायश्चित से बुद्धि की शुद्धि होती है। इस तथ्य के बीच में कोई बाधा नहीं हो सकती।

उपासना का प्रयोजन बताया गया है 'चित्त की एकाग्रता'। किन्तु प्रमाण रूप में किसी श्रुति या स्मृति को उद्धत नहीं किया गया है। जो श्रुति या स्मृति को उद्धत नहीं किया गया है। जो श्रुति एवं स्मृति उद्धत है उससे उक्त अर्थ का स्पष्ट रूप से लाभ नहीं होता पर थोड़ा ध्यान देने से उक्त श्रुक्ति एवं स्मृति से ही उपासना के इस प्रयोजन का लाभ हो जाता है। जैसे श्रुति में उक्त स्वरूप आत्मा की विविदिषा को वेदाध्ययन और यज्ञ का प्रयोजन कहा गया है। वेदाध्ययन से वेदार्थ का ज्ञान होता है। सगुण ब्रह्म भी वेदार्थ है, अतः सतत वेदाध्ययन से सतत उपस्थित होने वाले सगुण ब्रह्म में चित्त-सातत्यरूपवृत्ति उपासना का भी मन शब्द से लाभ हो जाता है।

विविदिषा को वेदानुवचन और यज्ञ का प्रयोजन कहने से यह ज्ञात होता है कि उन साधनों से बुद्धि की शुद्ध होकर जिज्ञासा होती है जिससे प्रेरित ही मनुष्य ज्ञानार्जन करता है, ज्ञान श्रुति से उपासना के चित्तस्थैर्य रूप प्रयोजन का भी लाभ हो सकता है। इसी प्रकार उक्त स्मृति से भी इस बात का लाभ हो सकता है क्योंकि कल्मष ही चित्र को एकाग्र होने में बाधक होता है। अतः तप से कल्मष का नाश होता है- इस कथन से यह लाभ अनायास हो जाता है कि उपासनात्मक तप से चित्त की एकाग्रता होती है।

नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित एवं उपासना कर्मों का गौण फल तो उनसे पितृलोक तथा सत्यलोक की उपलब्धि है। कर्म के द्वारा पितृलोक तथा विद्या के द्वारा सत्यलोक की प्राप्ति होती है। श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है-

"नित्यनैमित्तिकप्रायश्चितोपासनानां त्ववान्त फलं पितृलोकसत्यलोक प्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक इत्यादिश्रुतेः"।

जिस प्रकार वृक्षारोपण का प्रधान फल, फलों को प्राप्त करना है तथा आनुषङ्गिक फल छाया तथा गन्धादि प्राप्त करना करना है, उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मों का प्रधान फल चित्त की शुद्धि तथा अवान्तरफल पितृलोक की प्राप्ति है। उसी प्रकार उपासना कर्मों का मुख्य फल चित्त समाधि तथा अवान्तर फल सत्यलोक की उपलब्धि है।

लोक तीन हैं- मनुष्यलोक, देवलोक और पितृलोक। इनमें मनुष्य लोक पुत्र द्वारा ही जीतने योग्य होता है। इसका आशय यह है कि मनुष्यलोक में मनुष्य की स्थिति पुत्र द्वारा बनी रहती है क्योंकि-

"आत्मा वै जायते पुत्रः"।

मनुष्य पुत्र के रूप में स्वयं उत्पन्न होता है ।

पितृलोक कर्म द्वारा जीतने योग्य होता है। मृत्यु के बाद, मनुष्य पितृलोक को शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान से ही प्राप्त करता है पुत्र अथवा विद्या से नहीं।

देवलोक (सत्यलोक) विद्या-उपासना से ही प्राप्त होता है, "पुत्र अथवा उपासनात्मक कर्म से नहीं। देवलोक सब लोकों में श्रेष्ठ है, वही सत्यलोक है, अतः उसे प्राप्त करने वाली विद्या की विद्वज्जन प्रशंसा करते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि ये दोनों लोक भी अनित्य हैं। इन लोकों से भी मनुष्य का उसके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्मरूप पतन होता है। जैसे- तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक क्षीयते"। कहने का तात्पर्य है कि सत्यलोक से यहाँ मोक्ष अभिप्रेत नहीं है। नोट-साधनचतुष्टय की विवेचना अगले ब्लाग में की जायेगी जिसके पश्चात् "अधिकारी" का विवेचन पूर्ण हो जायेगा। अनन्तर अनुबन्ध चतुष्टय के तीन अन्य तत्त्वों विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन का उसके के आगे के ब्लाग में किया जायेगा।